

International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519 IJSR 2021; 7(3): 132-136 © 2021 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 19-03-2021 Accepted: 28-04-2021

डॉ॰ राज कुमार राय पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत

संस्कृति एवं सभ्यता

डॉ॰ राज कुमार राय

प्रस्तावना

लौकिक जीवन में भी वैदिक संस्कृति एवं सभ्यता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भारतीय धर्म-चिन्तकों का मानना है कि संसार का सभी जड़-चेतन पदार्थों का अस्तित्व जिस शक्ति या तत्त्व विशेष पर अवलम्बित है, उसी शक्ति या तत्त्व विशेष का नाम 'धर्म' है। इसी धर्म की वृद्धि से तत्तत् पदार्थों की मनुष्यों से वृद्धि होती है और इसी के हस से उनका ह्रास होता है।

धर्म के उपदेश के लिए चारों वेद-ट्रग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, स्मृति और पुराण आदि प्रवृत्त हैं। इसीलिए यह सुक्ति भी सत्य है कि ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'', अर्थात् समस्त वेद धर्मिक विधि-विधनों के लिए प्रवृत्त हुए हैं। धर्म आचार-व्यवहारों की विवेचना की दिशा में धर्मसूत्र के बाद स्मृति ग्रन्थों का स्थान आता है। सूत्रों में जो शब्द संक्षिप्त और संदिग्ध मालूम पड़ता था, स्मृति-ग्रन्थ उनकी विशद् व्याख्या करता है। भारतीय समाज स्मृति को भी श्रुतिवतु मानता है। हमारे समस्त ज्ञान वैदिक-मन्त्रों में अभिव्यक्त हुए हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति के इतिहास में वेदों का स्थान अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है। हमारे जितने भी आचार, व्यवहार, विचार व धर्मिक प्रवृत्तियाँ हैं, वे सब वेद मुलक हैं। स्मृति-साहित्य भी वेदों का ही अनुसरण करती हैं। आज भारतीय समाज में जो विधि-विधन दृष्टिगोचर होते हैं. उन सब का विवेचन हमारे स्मृति-ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। भारतीय समाज में जिस प्रकार श्रतियाँ श्रद्धेय एवं मान्य हैं. उसी प्रकार स्मतियाँ भी श्रद्धास्पद हैं। उनके अनेक आदेश भी उसी प्रकार नतमस्तक स्वीकारणीय हैं। स्मृति-ग्रन्थों की संख्या सूत्र-ग्रन्थों की तरह बहुत हैं। इसमें भी नारद, पराशर, हारीत आदि अष्टादश स्मृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इन अष्टादश स्मृतियों में भी मनु प्रोक्त मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य महर्षि द्वारा रचित याज्ञवल्क्यस्मृति अत्यन्त श्रेष्ठ और प्रचलित हैं। धर्मशास्त्रा के क्षेत्र में ये दोनों स्मृतियाँ ऐसी हैं, जो आज भी भारतीय समाज की हृदय की हार बनी हुई हैं। इन्हीं स्मृतियों में मानव मात्र के कल्याणार्थ शाश्वत् सत्य व सनातनधर्म के अनुष्ठान का दिव्य संदेश भरापड़ा है, जिसके अनुष्ठान से मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस का भागी बनता है। मन्स्मृति भारतीय लोक-जीवन के हृदय में सुप्रतिष्ठित है। विद्वानों का यह भव्य उद्गार है कि 'यन्मनुराह तद् में स्यामिमे', अर्थात् मनुवचन हमारे लिए महौषधिकी तरह उपकारक है। याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायः सभी अंशों में मन्स्मृति का ही अनुसरण करती है। कहीं-कहीं जो विषय मनुष्य के लिए अत्यन्त कठिन या अगम्य प्रतीत हुआ, तो महर्षि याज्ञवल्क्य ने उसे उदारतापूर्वक सरल-सुगम बनाकर उसके अनुष्ठान का आदेश दिया।

Corresponding Author: डॉ॰ राज कुमार राय पूर्व गवेषक, स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा, बिहार, भारत यह सब महर्षि ने मानवसुलभ दुर्बलता को देखते हुए किसीकिसी दुरूह नियम के लिए किसी वैकल्पिक व्यवस्था का भी
नियमों के अन्तर्गत कर दिया गया है, जिसके चलते
याज्ञवल्क्यस्मृति भी लोकप्रिय है। मनुस्मृति तथा
याज्ञवल्क्यस्मृति से मानव-जीवन के उन सभी आवश्यक
अंशों पर प्रकाश डाला गया है, जिन पर जीवन की सारी
गित-विध्याँ निर्भर है। धर्म को केवल कर्म, जाति व व्यक्ति
की संकुचित सीमा में न रखकर, उसे सार्वभौम बना दिया
गया। मनुष्य किसी देश में रहे, वह किसी जाति में रहे या
किसी भी वर्ण में रहे, उसे अपने अभ्युदय के लिए कुछ
निर्दिष्ट नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए-

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचामिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधे दशकं धर्मलक्षणम्।।

जैसा कि मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में धर्म के दस उपादानों या लक्षणों का जो निर्देश किया गया है। डा. सर्वपल्ली राधकृष्णन ने भी धर्म के पहलुओं पर विचार करते हुए कहा है कि आचार की आधरशीला धर्म एवं धर्म का आचार है। अर्थात् दोनों एक-दूसरे के बिल्कुल पूरक हैं। एक के बिना दूसरे की कल्पना कदापि नहीं की जा सकती है। यही कारण है कि इन उपर्युक्त तथ्यों को उपलब्ध् मानकर इस देश में रहने वाले देशवासी अपनी क्रियाओं का अनुपालन करते रहे हैं। यह तो सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। वस्तुतः धर्म का प्रयोजन है-अभ्युदय और निःश्रेयस। धर्म के अन्तर्गत प्रथम स्थान धृति अर्थात् धैर्य को दिया गया है। एक ऐसा तत्त्व है, जो मनुष्य की सपफलता का मूल मंत्र है। इसी प्रकार स्वाध्याय में निरन्तर रहना या सत्य बोलना यह एक ऐसा धर्मिक गुण है, जो किसी देश विशेष या जाति विशेष के लिए ही हितकर हो, ऐसी बात नहीं कही जा सकती। ये सारे गुण विश्व के समस्त देश, किसी भी काल में, किसी भी जाति के लिए एक समान आवश्यक है। धर्म के लक्षण में निदृष्ट निम्नलिखित दशों गुण ऐसे हैं, जो समस्त मानव-जीवन को कल्याण पथ पर अग्रसर करने वाले हैं। जो मनुष्य इन निम्नलिखित गुणों को करता है, निश्चय ही उसका जीवन विभिन्न प्रकार से कष्ट एवं अशान्ति का आगार बन जाता है, जिसकी चर्चा अवलोकनीय है-

1. धृति-धैर्य: अनेक बाधओं के उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये गये कार्य को अटल विश्वास के साथ पूर्ण करना ही 'धैर्य' है। धैर्य मनुष्य की सपफलता और साहस का द्योतक है। इस प्रसंग में नीतिज्ञ विदुर का भी कहना है कि विषयों में लगे अन्तः करण को धैर्य के बिना नियन्त्रित नहीं किया जा सकता। अतएव, मन को नियंत्रित करेनवाली वृत्ति को ही 'धैर्य' की संज्ञा दी जाती है। इसी प्रकार गीता में धृति मन, प्राण और इन्द्रिय को शास्त्रा विरूद्ध गमन से रोकता है। वह धैर्य सत्त्व गुण वाला है। धर्म, अर्थ और काम के हेतु कार्य का

निश्चय जिस धैर्य के द्वारा होता है, वह रजो गुण से सम्पन्न धृति कही जाती है। निन्दा, भय एवं शोक जिस धैर्य के वश में होकर भी इससे अलग नहीं होता है, वह धैर्य तामसी होता है। अर्थात् उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि धैर्य या धृति के बिना समाज में रहने वाले व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास कदापि सम्भव नहीं। इसके विपरीत अन्य पश्चिमी सभ्यता के अनन्तर धैर्य की सीमाओं का उल्लंघन एवं उससे अलग हट कर तथा अधैर्य की सीमाओं में बंध्कर कार्य करने की प्रवृत्ति के प्रभाव हिन्दू धर्मावलम्बियों को प्रमाणित करते देखा गया है, जबिक स्मृतिकार याज्ञवल्क्य ने मानव की सफलता का प्रथम सोपान धृति को ही माना है। यही कारण है कि परवर्ती दार्शनिकों, विचारकों, समाज-सुधरकों ने एक स्वर में धृति जैसे गुण को सफलता की प्रथम सीढ़ी के रूप में स्वीकार किया।

2. क्षमा: सुख-दु:ख, हर्ष एवं विषाद और मानापमान में समान होकर इन सबको अमृत की तरह पान करना ही क्षमा है। क्षमा में उदारता का मान निहित है, क्षमाशील व्यक्ति के शत्रु भी मित्र हो जाते हैं। दया, क्षमा, शान्ति, अहिंसा, सत्य, सरलता, अद्रोह और शम जैसे गुणों को न केवल याज्ञवल्क्य ने बल्कि महाभारतकार वेदव्यास कृष्णद्वैयपायन ने भी धर्म के रूप में स्वीकार किया-

आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिसा सत्यमार्जवम्। अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा।। पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम।।³

दूसरों के द्वारा दिखाये जाने पर अथवा कष्ट पहुँचाये जाने पर जो उसे क्षमा कर देता है, वही आचरण श्रेष्ठ कहा जाता हैं क्षमा गुण के अर्जन में इन्द्रिय-दमन को प्रधन कारण माना गया है। ऐसे संयमित का किसी प्राणी से विरोध नहीं होता तथापि, धर्मशास्त्रा में यह भी विधन है। यदि पापी शरनागत होकर भविष्य में पापकर्म में प्रतिज्ञा न करे तो उसे क्षमा कर देना चाहिए, क्योंकि दुष्ट पुरुष भी किसी समय सुधकर शीलवान् बन सकता है। इस दण्ड का प्रयोग शास्त्रों में पाप-कर्म से मनुष्य को मुक्त कर शीलवान् बनाने की चेष्टा भी करता है। शास्त्राविधि में जिस दण्ड का प्रयोग किया गया है. वह दण्ड असूर व मानव सहित संसार को आनन्द देता है। जो धर्म से विचलित हो, वह दुष्ट ही दण्डनीय है। तथापि गौतम जैसे स्मृतिकार ने लिखा है- 'अदण्डयौ मातापितरौ, स्नातक-प्रोहित परिव्राजक-वानप्रस्थाः श्रुतशीलशौचाचारवन्तस्ते हि ध्र्माध्कारिण इति'। वृहस्पतिस्मृति में कहा गया है कि बाह्य या मानसिक अथवा किसी उत्पाद से उत्पन्न दुःखं की दशा में क्रोध या हिंसा न करने का नाम ही क्षमा है-

बाह्ये चाध्यात्मिके चैव दुःखे चौत्पत्तिके क्वचित्।

न कुप्यति न वा हन्ति सा क्षमा परिकीर्तिता।।4

इसकी बृहत् व्याख्या करते हुए महाभारतकार ने स्पष्ट किया है कि क्षमा धर्म है, क्षमा सत्य है, क्षमा से परमेश्वर प्रसन्न होते हैं। क्षमा से ही जगत् की यह स्थिति है। यह तपस्वियों का तेज है, ब्रह्मलोक, सत्य एवं यज्ञ सभी क्षमा से प्रतिष्ठित है। इस प्रकार इसका त्याग नहीं करना चाहिए।⁵

क्षमा जिसके पास शोभती है, उन लोगों को असहाय समझते हैं, िकन्तु क्षमा तो बलवानों का भूषण है। क्षमा ही वशीकरण है, सभ्यता के अनुयायिओं के शब्दकोश में क्षमा शब्द को अभावग्रस्तता ने ही हमारे इस धर्म पर अपने प्रभावकारी छाप छोड़े हैं। ''क्षमावश कृतिर्लोक क्षमया किं न साध्यते।'', यह तो परम सिद्ध है कि जिनके पास क्षमा है, वह किसी का शत्रु नहीं बन सकता। क्रोध् तो क्षमाशील को उत्पन्न नहीं होता। इसलिए क्षमा दुर्जनों के कहर से मुक्ति दिला देती है। इसलिए ऋषियों ने क्षमा को परम धर्म कहा है।

ब्रिटिश शासनकाल में निर्दोष व्यक्तियों को पकड़कर उनकी याचनाओं को अनसूनी कर उन्हें दण्ड देना तथा क्षमादान के बदले गरल दान उनकी विशेषताएँ रही, पफलस्वरूप उस निष्ठुरता के प्रभाव आज तक मेरे धैर्य रूपी क्षमा को प्रभावित करते हुए पूर्णतया तो नहीं अपितु, आंशिक रूप से प्रभावित करते हुए दृष्टिगत प्रतीत होता है।

3. दम: मन इन्द्रियों का स्वामी है एवं इन्द्रियों तथा आत्मा का माध्यम है। इस प्रकार मन पर नियंत्रण रखना 'दम' कहा जाता है। महाभारत में दम का निरूपण करते हुये व्यास ने लिया है कि 'मानसो दमनं दमः'। मन को दुष्ट विषयों से वारण करना दम है। निश्चय ही दम मोक्ष का कारण है। ब्राह्मण के लिए विशेष रूप से दम सनातन धर्म कहा गया है। दम से समन्वित ब्रह्मण दान, यज्ञ तथा अध्ययन से ऊपर उठकर दम का पफल माना गया है। यह तेज को बढ़ाता है तथा अपने पापों का नाश करता है।

जिस प्रकार देशों की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव से उपर्युक्त ब्राह्मण, कृपा, दान, यज्ञ की प्रथा का विलोपन हो चुका है। जिस वस्तु से दम का सृजन माना गया है, वैसी धरणा का अभाव सभ्यता के अभ्यन्तर बिल्कुल स्पष्ट परिलक्षित होता है। दम का आशय लेकर ही योगी योगाभ्यास कर सकता है, किव काव्य-सृष्टि कर सकता है तथा चित्रकार चित्र बना सकता है।

विष्णुस्मृति ने भी दम की शिक्षा दी है- 'दमयेन तिष्ठेत'।

यह परम सत्य है कि दम के बिना अगाध् विषय-सागर को पार लगाना बड़ा कठिन है। कामियों की इच्छायें समाप्त नहीं होती। अतः वह दम के अभावग्रस्तता के कारण पुण्य की जगह पापों के अथाह सागर में अपना जीवन खो देता है।

- 4. अस्तेय: चोरी करना अधर्म है, किन्तु चोरी नहीं करना धर्म माना गया है। मनुष्य चोरी तब करता है, जब वह अपने कर्त्तव्य से विमुख हो जाता है, धर्मशास्त्राकारों ने आचार के आधर पर ही भारतीय समाज का भव्य निर्माण किया है। इसके सर्वांगीण उन्नति में आधर की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। आचार को दीर्घ जीवन का सामान्य कारण माना गया है। आचार अथवा आचरण की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है कि न्यायार्जित वस्तु का उपयोग ही मनुष्य को उन्नति के शिखर पर पहुँचाता है। न्यायार्जित ध्र ही चिरस्थायी होती है। अतः दूसरे की ओर लालायित न होने का निर्देश स्मृतिकारों ने दिया है। लिखित महोदय ने अपनी स्मृति में स्पष्ट लिखा है कि बिना अनुमित के किसी वस्तु को प्राप्त करना दण्डनीय समझा जाता है।7
- 5. शौच: सर्वतोभावेन बाह्य और आभ्यन्तर की विशुद्ध अवस्था का नाम शौच है। वस्तुतः विशुद्ध आत्मा में ही ज्ञान का उदय होता है और इस आत्मा का परमात्मा से साक्षात्कार हो पाता है। बाह्य शरीर और आन्तरिक आत्मा-ये दोनों मानव-जीवन के आवश्यक तत्त्व हैं। वस्तृतः मानव अपने शरीर से नहीं जीता है बल्कि आत्मा से जीता है। आत्मिक जीवन मनुष्य का वास्तविक जीवन है। सांसारिक भोग की सुखोपलब्धि के बीच आत्मा-कालान्त बेचैन बनी रहती है. जबिक आत्मिक प्रसAता की अवस्था में इस भौतिक ऐश्वर्य विहिन जीवन भी नैषर्गिक शीतल शान्त प्रतीत होता है। मानव आत्मतः अविरल शान्ति का पुजारी है। सभ्यता की ऊँचाई पर चढ़कर भी मानव गहराई में उतरकर सदा प्रयत्नशील रहता है। मानव-जीवन क्षणिक सुख का नहीं अपित्, शाश्वत शान्ति का उपासक है। बाह्य शुद्धि जलादि से होती है और आन्तरिक पवित्रता मन और इन्द्रियों के नियन्त्राण से होती है, ऐसे पवित्र विचार महर्षि मन् और महर्षि याज्ञवल्क्य सभी मनीषियों के हैं।
- 6. इन्द्रियनिग्रहः धर्मकार्यों में विषय-वासना इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर विचलित न होने देना ही इन्द्रियनिग्रह है। प्रायः इन्द्रियाँ बाहिर्मुख होती हैं। अनुचित विषयों से उनका लगाव न रखकर अपने अभिष्ट विषय की ओर ले जाने से इन्द्रियों की निर्मलता तथा स्वस्थता बनी रहती है। मनुस्मृति में इन्द्रियनिग्रह की विशद् चर्चा के क्रम में कहा गया है कि जिस प्रकार रथ को चलाने के लिए सारिथ घोड़ा को सम्भालना है, तभी रथ का सही संचालन हो पाता है। ठीक उसी प्रकार व्यक्ति या विद्वानों का विषय-वासना की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियों को नियन्त्रित करने का कार्य करता है। अर्थात् समाज में धर्म का पालन करना एक दुरूह कार्य है, ऐसे धर्म की दीक्षा भारतीय संस्कृति एवं परम्परा का द्योतक माना गया है।

7. धी: बुद्धि-विवेक व शास्त्रीय ज्ञान को धी या बुद्धि कहते हैं, जो धी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धरण करती है और अपत्यवत् सभी में अपना व्यवहार दिखलाती है और यथा समय उचित व्यवहार करती है, उसी का नाम धी है।

व्यक्ति समाज में जन्म लेता है, समाज में पलता है, समाज से ज्ञान प्राप्त करता है, इसीलिए वह समाज का प्राणी है। समाज के अनुकूल लोकहीत में उसके आचरण उसका कर्तव्य है। आर्य टृषियों को इस बात का ज्ञान था कि मात्र पेय या भौतिक ऐषणा की उपासना आत्म-विनाश की ओर ले जाती है। इसीलिए उन्होंने धर्म-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रेय और श्रेय के बीच एक ऐसा संतुलन स्थापित किया, जिससे जीवन विकास के मार्ग पर प्रेय या मंत्र का साध्न बन जाता है। समाज एवं लोक-कल्याण के निर्मित मानव के व्यक्तित्व को सदाचारी शिव संकल्प, शील, समाजहितैषी, नीतिमान, सत्यान्वेषी एवं पुरुषार्थी बनाने में धर्म के ये गुण सभी काल के मनुष्यों के लिए आवश्यक प्रतीत होते हैं।

- 8. विद्या: ज्ञानोपलिध का सर्वश्रेष्ठ साध्न विद्या ही है। विद्या मनुष्य का तृतीय नेत्र है, जिसका आश्रय गुरु हैं। विद्या वह साध्न है जो मनुष्य को उत्कर्ष की ओर ले जाती है। यह किसी भी अवस्था में मनुष्य को सुख देने वाली है। अतः मनु हों अथवा स्मृतिकार याज्ञवल्क्य हों, सभी ने विद्या-ग्रहण करने का निर्देश दिया है।
- 9. सत्यः उपनिषद् में कहा गया है- 'सत्यं वद सत्या प्रमदितव्यम्'। अर्थात् सत्य बोलो, सत्य के प्रति प्रमाद नहीं करना चाहिए। जिस वस्तु को जिस प्रकार देखा या जाना हो उसे उसी प्रकार का कहना सत्य या यथार्थ है। असत्य का परित्याग व सत्य का आचरण करने वाले मनुष्य सच्चे अर्थों में ज्ञानी व विद्वान होते हैं।

तैत्तिरीय संहिता में ऐसा कहा गया है कि सत्य साक्षात् परमेश्वर है, तथा परमेश्वर सत्य है। सत्य के कारण लोग स्वर्गलोग से गिरते नहीं, सत्य-भाषण सन्तों का स्वभाव है। अतः वे सत्य में ही रमण करते हैं। इसी प्रकार मनुस्मृति में भी कहा गया है- सत्य बोलो, प्रिय बोलो किन्तु अप्रिय सत्य नहीं बोलो। प्रिय असत्य भी नहीं बोलना चाहिए। ये सभी सनातन धर्म हैं। महाभारत तो सत्य के उदाहरणों से भरा पड़ा है। भीष्म पितामह ने कहा है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और असत्य से बड़ा कोई पाप नहीं है, यही सभी धर्मों का मूल है। इसीलिए सत्य का लोप कदापि नहीं करना चाहिए। वेद का मूल और धर्म सदा सत्य पर आश्रित है। यही कारण है कि अश्वमेघ यज्ञ भी इसका बराबरी नहीं कर सकता है। इन सभी उद्धरणों का मूल मात्र यही दृष्टिगत होता है कि सामान्य धर्म के रूप में सत्य का पलड़ा भारी होता है। इसीलिए सत्य साक्षात परमेश्वर ही है।

10. अक्रोध: क्रोध् एक ऐसा अभिशाप है, जिसके वजह से मनुष्य विवेकहीन हो जाता है। उसकी विचार-शक्ति भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य सर्वनाश की ओर अग्रसर होने लगता है। इसीलिए क्रोध पर हमेशा नियंत्रण रखना चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब हम धर्मिक जीवन व्यतीत करे। स्मृतिकारों ने व्यापक दृष्टि से इन दस धर्म-लक्षणों वाले सार्वभौम धर्मों का निर्देश किया है। परन्तु धर्म के जो अवान्तर प्रकार है, वे देश-विदेश. जाति-विशेष व वर्ण-विशेष या आश्रम-विशेष के लिए निर्दिष्ट हैं। जैसे- ब्राह्मण का धर्म अध्ययन व अध्यापन आदि. क्षत्रिय का धर्म प्रजा संरक्षण आदि. वैश्य का धर्म वाणिज्य व्यापार आदि, शुद्रों का धर्म त्रिवर्ग की सेवा-शृश्रुषा आदि। उपर्युक्त ये जो धर्म के दस लक्षण हैं, वे सभी कालों के मनुष्यों के लिए तथा सभी वर्णों के लिए सभी लोकों के मनुष्य के लिए धरण करने योग्य है। इन उपर्युक्त दस धर्म-लक्षण से हीन व्यक्ति न तो अपनी उन्नति कर सकता है और न दूसरों के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

धर्मशास्त्राकारों ने आचार को दीर्घ जीवन एवं सुख का कारण माना है। इसको भी धर्मिकों ने वेद व स्मृति के समान आसन पर बिठाया है- 'वेदः स्मृतिः सदाचारः' इत्यादि। इस सन्दर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि धर्मशास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसका आधर वेद ही है। वेदों ने जिस नियम या आचरण को मान्यता दी है, उसी आधर पर धर्मशास्त्रों में नियमों की रचना की गई है। समय के साथ-साथ वैदिक कर्मों में भी परिवर्त्तन दृष्टिगोचर होने लगा है। मनुष्य जितना भी ज्ञानार्जन करता है उन सबका उपयोग है। भारतीय धर्मिक आख्यानों में इस बात को सर्वत्र दिखाया गया है कि सारी बातें एक ओर हैं और मनुष्य का आचरण एक ओर है। इसी आचरण के पफलस्वरूप निम्नकोटि का मनुष्य भी ईश्वरतत्त्व तक दर्शन कर सकता है। इसके अभाव में महर्षि की तपस्या भी व्यर्थ है, वह भी सामान्य व्यक्ति की तरह पाप का भागी हो सकता है।

वस्तुतः इस संसार में हम जो कुछ भी देखते हैं, सुनते हैं और जानते हैं, उन सबका प्रभाव हमारी इन्द्रियों और चित्त पर पड़ता है। जो बातें हमारे चित्त के अनुकूल होती हैं, उनसे सुख होता है और जो बातें प्रतिकूल होती हैं, उनसे दुःख होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनोनुकूलता में सुख है और मन की प्रतिकूलता में दुःख है, लेकिन लोकाचार का ज्ञान मनुष्य के लिए अति आवश्यक है। वस्तुतः जब तक धर्मिक रीतियाँ सुख-सामग्री प्राप्त नहीं की जाय, तब तक वह सुख क्षणिक और दुःखदायी होता है। इस लोकाचार का ज्ञान अति आवश्यक है। आज हम जिस युग में चल रहे हैं, वह युग सन्ताप व असंतोष की गर्मी से मानवता की चोटी पर प्रहार कर रहा है और स्थान-स्थान पर विघटन-कार्य की प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिए तथा सन्तप्त सोयी हुई मानवता को जगाने के लिए भारतीय धर्मशास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट सार्वभौम धर्म की परम आवश्यकता है।

सन्दर्भ

- 1. मनुस्मृति, 6/92
- 2. गीता, 18/33-35
- 3. महाभारत, शान्तिपर्व, 260/39-40
- 4. बृहस्पतिस्मृति,
- 5. महाभारत, शांतिपर्व, दमं निःश्रेयसे प्राहुर्वृद्धा निश्ययदर्शिनः। ब्राह्मणस्य विशेषेण दमोधर्मः सनातनः।।दामत्तस्य क्रियासिद्धिर्यथावदुपलभ्यते। दमो दानं तथा यज्ञानधीतं चातिवर्त्तते।। दमस्तेजो वर्द्धयति पवित्रां चदमः परम्। विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्।।, महाभारत, शान्तिपर्व, 236-11
- 6. धर्मस्तु ते व्यक्तिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता-लिखति स्मति-
- 7. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
- 8. संयमे यलमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव बार्जिनाम्।।, मनुस्मृति, 2/88
- 9. तैत्तिरीय संहिता
- 10. मनुस्मृति, 4/138
- 11. महाभारत